

आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का विकास: एक ऐतिहासिक विश्लेषण

Akshay chawala

MA NET History
Rajasthan University Jaipur
akshaychawla1611@gmail.com

सारांश (Abstract)

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, जहाँ कृषि केवल आजीविका का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का आधार भी है। भारतीय इतिहास में किसानों ने भूमि संबंधों, लगान व्यवस्था, जमींदारी शोषण, ऋणग्रस्तता, कृषि उत्पादों के उचित मूल्य तथा सरकारी कृषि नीतियों के विरुद्ध समय-समय पर विभिन्न आंदोलन किए हैं। आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का विकास औपनिवेशिक शासन के दौरान स्थापित भूमि-राजस्व व्यवस्थाओं और ग्रामीण शोषण के विरुद्ध संघर्षों से प्रारंभ हुआ। नील विद्रोह, पाबना आंदोलन, दक्कन दंगे, चंपारण सत्याग्रह, खेड़ा सत्याग्रह, बारदोली आंदोलन तथा अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना ने भारतीय किसान चेतना को संगठित स्वरूप प्रदान किया। स्वतंत्रता के पश्चात किसान आंदोलनों की प्रकृति में परिवर्तन आया और भूमि सुधार, सिंचाई, बिजली, कृषि ऋण, न्यूनतम समर्थन मूल्य तथा कृषि उपज के लाभकारी मूल्य जैसे प्रश्न प्रमुख बने। 1970 और 1980 के दशकों में विभिन्न क्षेत्रीय किसान संगठनों ने कृषि लागत, बाजार व्यवस्था और ग्रामीण अर्थव्यवस्था से जुड़े मुद्दों को राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बनाया। इक्कीसवीं सदी में भूमि अधिग्रहण, कृषि संकट, किसानों की आय, जलवायु परिवर्तन और कृषि कानूनों से संबंधित प्रश्नों ने किसान आंदोलनों को नए आयाम दिए। प्रस्तुत शोधपत्र में आधुनिक भारत के किसान आंदोलनों के ऐतिहासिक विकास, प्रमुख चरणों, नेतृत्व, सामाजिक आधार, उपलब्धियों तथा सीमाओं का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि किसान आंदोलन भारतीय लोकतंत्र, ग्रामीण समाज और कृषि नीति के विकास को समझने का एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक माध्यम हैं।

मुख्य शब्द: किसान आंदोलन, औपनिवेशिक शासन, किसान चेतना, चंपारण सत्याग्रह, अखिल भारतीय किसान सभा, भूमि सुधार, कृषि संकट, किसान संगठन।

1. प्रस्तावना

भारतीय समाज की ऐतिहासिक संरचना में किसानों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। प्राचीन काल से ही कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार रही, किंतु आधुनिक काल में औपनिवेशिक शासन के विस्तार के साथ कृषि उत्पादन, भूमि स्वामित्व और ग्रामीण सामाजिक संबंधों में व्यापक परिवर्तन हुए। ब्रिटिश शासन ने भूमि से राजस्व प्राप्त करने के लिए स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी तथा महालवाड़ी जैसी व्यवस्थाएँ लागू कीं। इन व्यवस्थाओं के स्वरूप और प्रभाव क्षेत्रों के अनुसार अलग-अलग थे, लेकिन अनेक स्थानों पर किसानों को भारी लगान, ऋणग्रस्तता, बेदखली और साहूकारों पर निर्भरता जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।

किसानों की समस्याएँ केवल आर्थिक नहीं थीं। भूमि पर अधिकार, सामाजिक प्रतिष्ठा, स्थानीय सत्ता-संबंध, जातिगत असमानता और प्रशासनिक अन्याय भी उनके जीवन को प्रभावित करते थे। इन परिस्थितियों ने विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिरोध की भावना को जन्म दिया। प्रारंभिक किसान विद्रोह प्रायः स्थानीय समस्याओं पर केंद्रित थे, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में किसान संघर्ष अधिक संगठित होने लगे।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसान आंदोलनों का संबंध भी समय के साथ विकसित हुआ। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चंपारण और खेड़ा सत्याग्रह ने किसानों की समस्याओं को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ा। दूसरी ओर, किसान सभाओं, समाजवादी समूहों और वामपंथी संगठनों ने भूमि संबंधों, वर्गीय शोषण तथा कृषक अधिकारों पर विशेष बल दिया। स्वतंत्रता के बाद भी किसान आंदोलनों का अंत नहीं हुआ, बल्कि उनके मुद्दे औपनिवेशिक लगान और जमींदारी से आगे बढ़कर कृषि मूल्य, सरकारी नीतियों, उत्पादन लागत, बाजार और ग्रामीण विकास तक विस्तृत हो गए।

इस प्रकार, आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का इतिहास केवल विद्रोहों और विरोध प्रदर्शनों का इतिहास नहीं है, बल्कि ग्रामीण समाज में अधिकार चेतना, राजनीतिक भागीदारी और आर्थिक न्याय की मांगों के विकास का इतिहास भी है।

2. शोध समस्या एवं अध्ययन का महत्व

प्रस्तुत अध्ययन की मुख्य शोध समस्या यह समझना है कि आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का स्वरूप किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में विकसित हुआ और समय के साथ उनके उद्देश्यों, नेतृत्व, संगठनात्मक संरचना तथा राजनीतिक प्रभावों में किस प्रकार परिवर्तन आया।

औपनिवेशिक काल में किसानों का संघर्ष मुख्यतः लगान, जबरन खेती, साहूकारी शोषण और भूमि अधिकारों से संबंधित था। स्वतंत्रता के बाद कृषि सुधारों के बावजूद किसानों की समस्याएँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुईं। हरित क्रांति के बाद कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई, किंतु क्षेत्रीय असमानताओं, सिंचाई और तकनीकी संसाधनों की उपलब्धता तथा बाजार तक पहुँच में अंतर बना रहा। परिणामस्वरूप किसान आंदोलनों ने विभिन्न समयों पर अलग-अलग मुद्दों को प्रमुखता दी।

इस अध्ययन का महत्व इस तथ्य में निहित है कि किसान आंदोलन भारतीय लोकतंत्र और नीतिगत परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में सहायता करते हैं। इनके माध्यम से यह भी स्पष्ट होता है कि किसान समुदाय एक समान हितों वाला समूह नहीं है। भूमिहीन मजदूर, सीमांत किसान, छोटे किसान और बड़े व्यावसायिक किसान कई बार अलग-अलग आर्थिक हितों तथा राजनीतिक प्राथमिकताओं के आधार पर संगठित होते हैं।

3. शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं।

1. आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास का अध्ययन करना।
2. औपनिवेशिक काल के प्रमुख किसान विद्रोहों तथा उनके आर्थिक-सामाजिक कारणों का विश्लेषण करना।
3. भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और किसान आंदोलनों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
4. स्वतंत्रता के बाद किसान संगठनों, कृषि नीतियों तथा नए किसान आंदोलनों के विकास का मूल्यांकन करना।
5. समकालीन किसान आंदोलनों की प्रमुख मांगों, उपलब्धियों, सीमाओं और ऐतिहासिक महत्व का विश्लेषण करना।

4. शोध पद्धति

यह शोधपत्र ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। इसमें आधुनिक भारतीय इतिहास से संबंधित पुस्तकों, शोधपत्रों, शैक्षणिक अध्ययनों, सरकारी प्रकाशनों तथा कृषि आंदोलनों से जुड़े उपलब्ध दस्तावेजों का उपयोग किया गया है। अध्ययन में प्राथमिक ऐतिहासिक घटनाओं और द्वितीयक साहित्य के आधार पर किसान आंदोलनों को कालक्रमानुसार समझने का प्रयास किया गया है। विभिन्न आंदोलनों की तुलना उनके कारणों, नेतृत्व, सामाजिक आधार, कार्यप्रणाली और परिणामों के आधार पर की गई है।

यह अध्ययन मुख्यतः गुणात्मक है। इसमें किसी स्वतंत्र क्षेत्रीय सर्वेक्षण या प्राथमिक आँकड़ा-संग्रह का दावा नहीं किया गया है। अतः इसके निष्कर्ष ऐतिहासिक स्रोतों और उपलब्ध शोध साहित्य की व्याख्या पर आधारित हैं।

5. आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आधुनिक भारतीय किसान आंदोलनों की पृष्ठभूमि को समझने के लिए औपनिवेशिक शासन द्वारा कृषि व्यवस्था में किए गए परिवर्तनों का अध्ययन आवश्यक है। ब्रिटिश शासन ने भूमि को राजस्व प्राप्ति के प्रमुख स्रोत के रूप में देखा। विभिन्न क्षेत्रों में लागू की गई भू-राजस्व व्यवस्थाओं ने किसानों, जमींदारों, तालुकदारों और साहूकारों के बीच संबंधों को प्रभावित किया।

1793 के स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत बंगाल और उससे संबंधित क्षेत्रों में जमींदारों को राजस्व वसूली की प्रमुख जिम्मेदारी दी गई। रैयतवाड़ी व्यवस्था में सरकार और कृषक के बीच सीधे राजस्व संबंध स्थापित करने का प्रयास किया गया, जबकि महालवाड़ी व्यवस्था में गाँव या महाल को राजस्व निर्धारण की इकाई बनाया गया। इन व्यवस्थाओं का वास्तविक प्रभाव क्षेत्रीय परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग था। फिर भी राजस्व की कठोर माँग, फसल की अनिश्चितता और किसानों की सीमित आर्थिक क्षमता ने कई क्षेत्रों में ऋणग्रस्तता तथा भूमि से बेदखली की समस्या को बढ़ाया।

औपनिवेशिक काल में नकदी फसलों की खेती का विस्तार भी किसान असंतोष का एक कारण बना। नील, कपास और अन्य व्यावसायिक फसलों के उत्पादन ने किसानों को बाजार की कीमतों और व्यापारिक हितों पर अधिक निर्भर किया। कुछ क्षेत्रों में यूरोपीय बागान मालिकों तथा स्थानीय महाजनों ने किसानों पर अनुचित शर्तें थोपीं। फसल खराब होने, कीमतों में गिरावट या ऋण का भुगतान न कर पाने की स्थिति में किसानों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती थीं।

इतिहासकारों ने इस बात पर बल दिया है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक किसान संघर्ष स्थानीय शिकायतों से प्रेरित थे और उनका संगठन सीमित था। इसके विपरीत, बीसवीं शताब्दी में किसान सभाओं, राष्ट्रीय राजनीतिक संगठनों तथा वामपंथी समूहों के प्रभाव से कई आंदोलनों को अधिक संगठित स्वरूप मिला।

6.1 नील विद्रोह (1859–1860)

बंगाल का नील विद्रोह आधुनिक भारत के आरंभिक प्रमुख किसान आंदोलनों में से एक था। यूरोपीय नील बागान मालिक किसानों को नील की खेती करने के लिए बाध्य करते थे। किसानों को कई बार अग्रिम धन देकर ऐसे अनुबंधों में बाँधा जाता था जिनकी शर्तें उनके लिए प्रतिकूल थीं। नील की खेती से भूमि और श्रम पर दबाव पड़ता था, जबकि किसानों को उसके बदले पर्याप्त आर्थिक लाभ नहीं मिलता था।

1859–1860 के दौरान बंगाल के अनेक क्षेत्रों में किसानों ने नील की खेती करने से इनकार किया और बागान मालिकों के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध किया। इस आंदोलन में स्थानीय कृषकों के साथ कुछ शिक्षित बंगाली व्यक्तियों और समाचारपत्रों ने भी किसानों की समस्याओं को सार्वजनिक किया। दीनबंधु मित्र के नाटक नील दर्पण ने नील की खेती से जुड़े शोषण को व्यापक सामाजिक चर्चा का विषय बनाने में योगदान दिया।

विद्रोह के बाद सरकार ने 1860 में नील आयोग नियुक्त किया। आयोग की जाँच और उसके बाद के घटनाक्रम ने किसानों की शिकायतों को

प्रशासनिक स्तर पर मान्यता दिलाने में भूमिका निभाई। यद्यपि इस आंदोलन ने ग्रामीण शोषण की सभी समस्याओं का समाधान नहीं किया, फिर भी इसने यह स्पष्ट किया कि संगठित किसान प्रतिरोध औपनिवेशिक आर्थिक हितों को चुनौती दे सकता है।

6.2 पाबना किसान आंदोलन (1873–1876)

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूर्वी बंगाल के पाबना क्षेत्र में किसानों ने जमींदारों द्वारा किराया बढ़ाने, अवैध वसूली करने और कृषक अधिकारों को सीमित करने के विरुद्ध आंदोलन किया। किसानों की प्रमुख मांगें उचित लगान, किरायेदारी अधिकारों की रक्षा और जमींदारों की मनमानी पर रोक से संबंधित थीं। इस आंदोलन में कृषकों ने सभाओं, सामूहिक संगठन और कानूनी उपायों का सहारा लिया। इसने यह दिखाया कि किसान केवल स्वतःस्फूर्त विद्रोह ही नहीं कर सकते, बल्कि अपने अधिकारों के लिए संगठित और अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण तरीकों से भी संघर्ष कर सकते हैं।

पाबना आंदोलन ने बंगाल में कृषक अधिकारों से संबंधित सार्वजनिक बहस को आगे बढ़ाया। बाद के वर्षों में किरायेदारी अधिकारों पर विधायी चर्चा और 1885 के बंगाल टेनेसी एक्ट जैसे उपायों के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस प्रकार के संघर्षों का महत्त्व रहा। हालांकि किसी एक कानून को केवल इसी आंदोलन का प्रत्यक्ष परिणाम मानना उचित नहीं होगा।

6.3 दक्कन दंगे (1875)

1875 में वर्तमान महाराष्ट्र के पुणे और अहमदनगर क्षेत्रों में किसानों ने साहूकारों के विरुद्ध विरोध किया। इस आंदोलन की पृष्ठभूमि में भूमि-राजस्व का दबाव, ऋणग्रस्तता, कृषि उपज की कीमतों में उतार-चढ़ाव और ऋण की वसूली से जुड़े विवाद थे। अमेरिकी गृहयुद्ध के दौरान कपास की मांग बढ़ने से भारतीय कपास उत्पादकों को कुछ समय तक ऊँची कीमतें मिलीं, लेकिन युद्ध समाप्त होने के बाद अंतरराष्ट्रीय बाजार की परिस्थितियाँ बदल गईं। इससे कपास पर निर्भर अनेक कृषकों की आर्थिक स्थिति प्रभावित हुई। किसानों का असंतोष साहूकारों के बहीखातों, ऋण दस्तावेजों और ऋण-वसूली की प्रक्रिया के विरुद्ध भी प्रकट हुआ। कुछ स्थानों पर हिंसक घटनाएँ हुईं और ऋण संबंधी अभिलेख नष्ट किए गए। औपनिवेशिक सरकार ने बाद में दक्कन कृषक राहत अधिनियम, 1879 लागू किया, जिसका उद्देश्य कृषकों और साहूकारों के बीच ऋण संबंधी विवादों को नियंत्रित करना था।

दक्कन दंगों ने औपनिवेशिक कृषि व्यवस्था की एक प्रमुख समस्या उजागर की—किसान की आय फसल और बाजार पर निर्भर थी, लेकिन उसकी राजस्व देनदारियाँ और ऋण संबंधी जिम्मेदारियाँ अपेक्षाकृत कठोर बनी रहती थीं।

6.4 बिजोलिया किसान आंदोलन

राजस्थान के किसान आंदोलनों के इतिहास में बिजोलिया आंदोलन का विशेष स्थान है। यह आंदोलन मेवाड़ रियासत के बिजोलिया ठिकाने में किसानों पर लगाए गए विभिन्न करों, लाग-बाग, बेगार तथा अन्य आर्थिक भारों के विरोध में विकसित हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में इसने संगठित रूप ग्रहण किया और लंबे समय तक चलता रहा।

विजय सिंह पथिक ने आंदोलन को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। साधु सीताराम दास और अन्य स्थानीय कार्यकर्ताओं का योगदान भी उल्लेखनीय था। किसानों ने अत्यधिक करों और बेगार का विरोध करते हुए जापन, संगठन, सभाओं तथा सामूहिक असहयोग जैसे तरीकों का प्रयोग किया। माणिक्यलाल वर्मा सहित राजस्थान के अन्य जननेताओं और कार्यकर्ताओं ने भी किसान अधिकारों से संबंधित चेतना के विस्तार में योगदान दिया।

बिजोलिया आंदोलन की ऐतिहासिक विशेषता यह थी कि इसने रियासती शासन के अंतर्गत किसानों की समस्याओं को व्यापक सार्वजनिक मुद्दा बनाया। यह केवल लगान-विरोध तक सीमित नहीं रहा, बल्कि किसानों के सम्मान, सामाजिक अधिकारों और उत्तरदायी शासन की

आकांक्षाओं से भी जुड़ा। इसके विभिन्न चरणों और समझौतों के कारणों तथा परिणामों को स्थानीय ऐतिहासिक परिस्थितियों के संदर्भ में देखना आवश्यक है।

राजस्थान में बिजोलिया के अतिरिक्त बेगूँ और शेखावाटी जैसे क्षेत्रों में भी कृषक प्रतिरोध विकसित हुए। इन आंदोलनों ने रियासती शासन के विरुद्ध जनजागरण और किसान संगठन की परंपरा को मजबूत किया। बिजोलिया का अध्ययन यह समझने में विशेष उपयोगी है कि किसान आंदोलन केवल ब्रिटिश शासित प्रांतों तक सीमित नहीं थे; देशी रियासतों में भी कृषि संबंधों के विरुद्ध संघर्ष विकसित हुए।

6.5 चंपारण सत्याग्रह (1917)

चंपारण सत्याग्रह आधुनिक भारतीय किसान आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। बिहार के चंपारण क्षेत्र में यूरोपीय नील बागान मालिक किसानों से नील की खेती करवाते थे। तिनकठिया व्यवस्था के अंतर्गत किसानों को अपनी भूमि के एक निश्चित हिस्से पर नील उगाने के लिए बाध्य किया जाता था। इससे किसानों की स्वतंत्रता, आय और कृषि संबंधी निर्णय लेने की क्षमता प्रभावित होती थी।

राजकुमार शुक्ल ने महात्मा गांधी को चंपारण आने और किसानों की समस्याओं की जाँच करने के लिए प्रेरित किया। 1917 में गांधी ने किसानों के बयान दर्ज करवाए और उनके शोषण से संबंधित तथ्यों को सामने लाने का प्रयास किया। सरकार ने जाँच समिति गठित की, जिसमें गांधी भी सदस्य थे। इसके बाद चंपारण कृषि अधिनियम, 1918 सहित संबंधित सुधारों के माध्यम से तिनकठिया व्यवस्था के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

चंपारण सत्याग्रह की विशेषता यह थी कि इसमें किसानों की स्थानीय आर्थिक समस्या को सत्याग्रह, जनसंपर्क, तथ्य-संग्रह और सार्वजनिक नैतिक दबाव के माध्यम से उठाया गया। इसने राष्ट्रीय राजनीति में ग्रामीण प्रश्नों का महत्त्व बढ़ाया। साथ ही, इस आंदोलन ने यह प्रदर्शित किया कि किसानों की शिकायतों की व्यवस्थित जाँच और संगठित अहिंसक प्रतिरोध प्रशासनिक निर्णयों को प्रभावित कर सकते हैं।

6.6 खेड़ा सत्याग्रह (1918)

1918 में गुजरात के खेड़ा जिले में फसल खराब होने के कारण किसानों की आर्थिक स्थिति कठिन हो गई थी। किसानों की माँग थी कि फसल की स्थिति और राजस्व संबंधी नियमों को ध्यान में रखते हुए लगान वसूली में राहत दी जाए। औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा राजस्व वसूली पर जोर दिए जाने के विरोध में किसानों ने आंदोलन किया। महात्मा गांधी और सरदार वल्लभभाई पटेल ने इस संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किसानों ने सामूहिक रूप से राजस्व भुगतान रोकने की रणनीति अपनाई। आंदोलन का आधार यह तर्क था कि फसल की गंभीर क्षति की स्थिति में किसानों से सामान्य परिस्थितियों की तरह लगान वसूलना अन्यायपूर्ण था।

खेड़ा सत्याग्रह ने सामूहिक अनुशासन, संगठन और अहिंसक प्रतिरोध की उपयोगिता को सामने रखा। इससे किसानों और राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं के बीच संपर्क बढ़ा। हालाँकि आंदोलन के परिणामों का आकलन करते समय प्रशासनिक राहत, व्यक्तिगत मामलों और सामूहिक समझौतों के बीच अंतर करना आवश्यक है।

6.7 अवध किसान आंदोलन और एका आंदोलन (1920–1922)

संयुक्त प्रांत के अवध क्षेत्र में किसानों ने तालुकदारों और जमींदारों द्वारा अधिक लगान वसूलने, बेदखली, बेगार और अन्य प्रकार की वसूली के विरुद्ध आंदोलन किया। बाबा रामचंद्र ने किसानों को संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जवाहरलाल नेहरू सहित राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े कुछ नेताओं ने भी ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं पर ध्यान दिया। किसान सभाओं के माध्यम से ग्रामीण जनता को अपनी शिकायतें सामूहिक रूप से प्रस्तुत करने का अवसर मिला। बाद में अवध के कुछ क्षेत्रों में एका आंदोलन उभरा, जिसमें किसानों ने निर्धारित लगान से अधिक भुगतान न करने और सामूहिक एकजुटता बनाए रखने जैसी माँगें उठाईं। मदारी पासी इस आंदोलन के प्रमुख स्थानीय नेताओं में शामिल

थे।

इन आंदोलनों से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के साथ किसानों का संबंध हमेशा एक जैसा नहीं था। राष्ट्रीय नेतृत्व जहाँ व्यापक राजनीतिक एकता को महत्व देता था, वहीं किसानों की स्थानीय माँगों में जमींदारों, तालुकदारों और ग्रामीण सत्ता-संबंधों में बदलाव की अपेक्षा भी शामिल थी। इस प्रकार किसान आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सामाजिक-आर्थिक न्याय, दोनों प्रश्नों से जुड़े रहे।

6.8 बारदोली सत्याग्रह (1928)

गुजरात के सूरत जिले के बारदोली क्षेत्र में 1928 में किसानों ने भू-राजस्व में वृद्धि के विरोध में आंदोलन किया। किसानों का तर्क था कि प्रस्तावित वृद्धि उनकी आर्थिक स्थिति और कृषि उत्पादन की वास्तविक परिस्थितियों के अनुरूप नहीं थी। सरदार वल्लभभाई पटेल ने आंदोलन का नेतृत्व किया और किसानों को संगठित अनुशासन के साथ संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। आंदोलन में राजस्व न देने की सामूहिक रणनीति अपनाई गई। किसानों की एकजुटता, महिलाओं की भागीदारी और संगठनात्मक अनुशासन ने इसे व्यापक पहचान दिलाई। संघर्ष के बाद राजस्व निर्धारण की समीक्षा हुई और किसानों को राहत मिली।

बारदोली सत्याग्रह ने यह स्थापित किया कि संगठित किसान समुदाय प्रशासनिक नीतियों को चुनौती देने की क्षमता रखता है। इस आंदोलन ने पटेल की राष्ट्रीय पहचान को मजबूत किया और किसान संघर्ष के अहिंसक संगठनात्मक मॉडल को लोकप्रिय बनाया। इसके साथ ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बारदोली का नेतृत्व और सामाजिक आधार मुख्यतः संगठित कृषक समुदायों पर आधारित था; इसलिए इसके अनुभव को भारत के सभी किसान वर्गों की परिस्थितियों का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता।

7. किसान आंदोलनों का संगठनात्मक चरण (1920–1947)

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में किसान आंदोलन स्थानीय विरोध से आगे बढ़कर अधिक संगठित राजनीतिक गतिविधियों में परिवर्तित होने लगे। किसान सभाओं, समाजवादी विचारधारा और वामपंथी संगठनों ने कृषि शोषण, जमींदारी, भूमि अधिकार तथा किसान-मजदूर एकता को आंदोलन के प्रमुख प्रश्नों के रूप में उठाया।

बिहार प्रांतीय किसान सभा की स्थापना 1929 में हुई। स्वामी सहजानंद सरस्वती इसके विकास और किसान राजनीति के विस्तार में केंद्रीय व्यक्तित्व बने। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना ने किसान संगठनों को अखिल भारतीय स्तर पर एक मंच प्रदान किया। इसके माध्यम से लगान में कमी, कर्ज से राहत, जमींदारी व्यवस्था में परिवर्तन तथा कृषक अधिकारों से संबंधित माँगों को राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत किया गया।

किसान संगठनों का विकास इस बात का संकेत था कि ग्रामीण असंतोष को अब केवल स्थानीय प्रशासन या जमींदारों के विरुद्ध सीमित संघर्ष के रूप में नहीं देखा जा रहा था। इसके बजाय कृषि व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन, भूमि के स्वामित्व और उत्पादन संबंधों को लेकर भी प्रश्न उठाए जा रहे थे।

7.1 तेभागा आंदोलन (1946–1947)

बंगाल का तेभागा आंदोलन बटाईदार किसानों के अधिकारों से संबंधित था। परंपरागत व्यवस्था में फसल का बड़ा हिस्सा भूमि मालिकों को देना पड़ता था। बटाईदार किसानों ने माँग की कि उनकी मेहनत और कृषि लागत को देखते हुए उपज का दो-तिहाई हिस्सा उन्हें मिलना चाहिए। इसी माँग को तेभागा आंदोलन के रूप में संगठित किया गया।

बंगाल प्रांतीय किसान सभा और वामपंथी कार्यकर्ताओं ने आंदोलन के प्रसार में भूमिका निभाई। किसानों ने फसल के बँटवारे और भंडारण से जुड़े अधिकारों के लिए संघर्ष किया। आंदोलन ने बटाईदारों की आर्थिक असुरक्षा तथा भूमि पर वास्तविक खेती करने वालों के अधिकारों को

सामने रखा। तेभागा आंदोलन का महत्त्व इस तथ्य में था कि उसने कृषि उत्पादन में श्रम करने वाले व्यक्ति और भूमि के कानूनी स्वामी के बीच मौजूद असमानता को प्रमुख राजनीतिक प्रश्न बनाया। इसने भूमि सुधार और बटाईदार अधिकारों से संबंधित बाद की बहसों को भी प्रभावित किया।

7.2 तेलंगाना किसान आंदोलन (1946–1951)

हैदराबाद रियासत के तेलंगाना क्षेत्र में 1946 से विकसित किसान आंदोलन सामंती भूमि संबंधों, जबरन श्रम, बेदखली और ग्रामीण शोषण के विरुद्ध संघर्ष था। कई क्षेत्रों में किसानों को जमींदारों और स्थानीय प्रभावशाली समूहों के अधीन कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने किसानों को संगठित करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

तेलंगाना आंदोलन के दौरान किसानों ने भूमि संबंधों में बदलाव, बेगार के अंत और ग्रामीण उत्पीड़न से मुक्ति की मांग की। आंदोलन के कुछ चरणों में सशस्त्र संघर्ष भी हुआ। इस कारण इसका स्वरूप चंपारण और खेड़ा जैसे अहिंसक सत्याग्रहों से भिन्न था।

तेलंगाना आंदोलन का ऐतिहासिक महत्त्व ग्रामीण वर्ग-संबंधों और भूमि स्वामित्व की समस्या को प्रत्यक्ष चुनौती देने में निहित है। यह भी स्पष्ट करता है कि किसान आंदोलनों के तरीके स्थानीय राजनीतिक परिस्थितियों, राज्य की प्रकृति और उपलब्ध संगठनात्मक संसाधनों के अनुसार अलग-अलग हो सकते हैं।

8. स्वतंत्रता के बाद किसान आंदोलनों का विकास (1947–1960 के दशक)

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राज्य के सामने कृषि व्यवस्था में सुधार, खाद्य सुरक्षा, भूमि संबंधों का पुनर्गठन और ग्रामीण गरीबी कम करने की चुनौती थी। स्वतंत्र भारत में जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार, किरायेदारी संबंधों में परिवर्तन और भूमि की सीमा निर्धारित करने संबंधी कानून विभिन्न राज्यों में लागू किए गए। इनके परिणाम समान नहीं रहे; कुछ क्षेत्रों में मध्यस्थ भू-स्वामित्व संबंध कमजोर हुए, जबकि अन्य क्षेत्रों में भूमि के वास्तविक पुनर्वितरण और भूमिहीन किसानों के अधिकारों में सीमित प्रगति हुई।

स्वतंत्रता के बाद किसान आंदोलनों की मांगें भी बदलने लगीं। कुछ आंदोलनों ने भूमि सुधार और भूमिहीनों के अधिकारों पर जोर दिया, जबकि अन्य ने सिंचाई, खाद, बीज, बिजली, कृषि ऋण तथा उत्पादन की कीमतों को प्राथमिकता दी। विनोबा भावे के भूदान आंदोलन ने स्वैच्छिक भूमि दान के माध्यम से भूमिहीनों को भूमि उपलब्ध कराने का प्रयास किया। यद्यपि भूदान का परिणाम क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग रहा, फिर भी इसने भूमि असमानता को सार्वजनिक विमर्श में बनाए रखा।

1950 और 1960 के दशकों में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों, सहकारी संस्थाओं तथा कृषि आधुनिकीकरण की नीतियों ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किया। लेकिन कृषि संसाधनों की असमान उपलब्धता और भूमि संबंधी समस्याओं के बने रहने से किसान संगठनों की भूमिका समाप्त नहीं हुई। इस चरण में किसान आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य से अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़े।

9. हरित क्रांति और नए किसान आंदोलनों का उदय (1960–1970 के दशक)

1960 के दशक के मध्य से हरित क्रांति ने भारतीय कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उन्नत बीजों, रासायनिक उर्वरकों, सिंचाई, कृषि मशीनरी तथा सरकारी खरीद व्यवस्था के विस्तार से कुछ क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता बढ़ी। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्रों में इसका प्रभाव विशेष रूप से दिखाई दिया। हालांकि इन लाभों का वितरण सभी राज्यों, फसलों और किसान वर्गों में समान नहीं था। कृषि के व्यावसायीकरण के साथ किसानों की समस्याओं का स्वरूप भी बदलने लगा। अब कृषि उत्पादन के साथ-साथ बिजली, डीजल, उर्वरक, मजदूरी और मशीनरी की लागत तथा कृषि उपज के बाजार मूल्य महत्वपूर्ण प्रश्न बन गए। किसानों का एक वर्ग इस बात पर जोर देने लगा कि

औद्योगिक वस्तुओं और कृषि निवेशों की कीमतों की तुलना में कृषि उपज का मूल्य पर्याप्त होना चाहिए।

1970 के दशक में महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में किसानों के संगठन अधिक सक्रिय हुए। इन आंदोलनों में उत्पादन लागत, बिजली दरों, सिंचाई शुल्क, कृषि ऋण तथा उपज के लाभकारी मूल्य जैसे मुद्दे प्रमुख बने। पहले के अनेक किसान आंदोलनों की तुलना में इन नए संगठनों में बाजार के लिए उत्पादन करने वाले मध्यम और समृद्ध किसानों की भूमिका अधिक दिखाई दी। समाजशास्त्रीय साहित्य में इस परिवर्तन को कृषक आंदोलनों से नए किसान आंदोलनों की ओर बदलाव के रूप में भी समझा गया है।

9.1 भारतीय किसान यूनियन और उत्तर भारतीय किसान आंदोलन

1980 के दशक में भारतीय किसान यूनियन (BKU) ने उत्तर भारत में किसान राजनीति को व्यापक पहचान दिलाई। महेंद्र सिंह टिकैत इस संगठन से जुड़े प्रमुख नेता थे। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में संगठन ने बिजली की दरों, गन्ने के मूल्य, कृषि ऋण और किसानों से संबंधित सरकारी नीतियों को प्रमुख मुद्दा बनाया। 1988 में दिल्ली के बोट क्लब क्षेत्र में आयोजित किसान जुटान ने किसानों की सामूहिक राजनीतिक शक्ति को राष्ट्रीय स्तर पर प्रदर्शित किया। इन आंदोलनों की विशेषता बड़े स्तर पर ग्रामीण जनसमूह को संगठित करना, पंचायतों की भूमिका का उपयोग करना और सरकार के साथ सामूहिक बातचीत करना था।

भारतीय किसान यूनियन की गतिविधियों ने यह प्रश्न उठाया कि कृषि क्षेत्र की आर्थिक समस्याओं का समाधान केवल उत्पादन बढ़ाने से संभव नहीं है। किसानों की आय इस बात पर भी निर्भर करती है कि उन्हें अपनी उपज का कितना मूल्य मिलता है और कृषि निवेशों पर उनका कितना खर्च होता है। फिर भी किसान यूनियन की सामाजिक संरचना और नेतृत्व को समझते समय क्षेत्रीय भिन्नताओं का ध्यान रखना चाहिए। बड़े और मध्यम किसानों की माँगें, भूमिहीन कृषि मजदूरों की आवश्यकताओं से कई मामलों में भिन्न हो सकती हैं। इसलिए किसी एक संगठन की माँगों को समूचे ग्रामीण समाज के हितों का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं माना जा सकता।

9.2 शेतकारी संगठन और कृषि मूल्य का प्रश्न

महाराष्ट्र में शरद जोशी के नेतृत्व में शेतकारी संगठन ने 1970 के दशक के उत्तरार्ध और 1980 के दशक में कृषि उपज के लाभकारी मूल्य तथा ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था के बीच मूल्य संबंधों को प्रमुख मुद्दा बनाया। संगठन का तर्क था कि कृषि उत्पादकों को अपनी उपज के लिए पर्याप्त मूल्य मिलना चाहिए, ताकि कृषि निवेश और उत्पादन से होने वाली आय के बीच संतुलन स्थापित हो सके।

इस आंदोलन ने प्याज, गन्ना और अन्य कृषि उत्पादों के मूल्य तथा बाजार तक पहुँच से जुड़े प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श में उठाया। इसकी विचारधारा ने किसानों को केवल परंपरागत ग्रामीण समुदाय के रूप में देखने के बजाय बाजार के लिए उत्पादन करने वाले आर्थिक उत्पादकों के रूप में समझने पर बल दिया। नए किसान आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि उन्होंने कृषि और उद्योग के बीच आर्थिक संबंधों पर चर्चा को आगे बढ़ाया। दूसरी ओर, इन आंदोलनों की आलोचना यह कहकर भी की गई कि बाजार-मूल्य संबंधी माँगें भूमिहीन मजदूरों और गरीब उपभोक्ताओं की समस्याओं से टकरा सकती हैं। इस प्रकार, कृषि मूल्य का प्रश्न केवल किसानों की आय का विषय नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक वितरण और खाद्य सुरक्षा का भी विषय बन गया।

10. 1991 के बाद किसान आंदोलनों की बदलती प्रकृति

1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण, बाजार व्यवस्था में परिवर्तन, व्यापार नीतियों तथा कृषि क्षेत्र में निवेश की बदलती परिस्थितियों ने किसानों के सामने नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं। इस अवधि में कृषि उत्पादों की कीमतों में उतार-चढ़ाव, उत्पादन लागत में वृद्धि, ऋणग्रस्तता, सिंचाई की अनिश्चितता और छोटे जोत आकार की समस्याएँ विभिन्न क्षेत्रों में प्रमुख बनी रहीं।

वैश्विक बाजार से कृषि के बढ़ते संबंधों ने किसानों के लिए अवसरों के साथ जोखिम भी पैदा किए। कुछ उत्पादकों को नए बाजारों तक पहुँच

मिली, जबकि अन्य को कीमतों की अस्थिरता, लागत और प्रतिस्पर्धा से संबंधित कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन परिस्थितियों में किसान संगठनों ने न्यूनतम समर्थन मूल्य, कृषि ऋण राहत, फसल बीमा, सिंचाई, बिजली और सरकारी खरीद जैसे विषयों पर आंदोलन किए। इस चरण में किसान आत्महत्याओं और कृषि संकट ने भी सार्वजनिक तथा अकादमिक विमर्श में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। इन घटनाओं के कारणों को किसी एक कारक से नहीं समझा जा सकता; ऋण, फसल की विफलता, बाजार की अनिश्चितता, संसाधनों की कमी और क्षेत्रीय परिस्थितियाँ अलग-अलग भूमिकाएँ निभा सकती हैं।

इस अवधि में किसान आंदोलन एकरूप नहीं रहे। कुछ संगठन सरकारी समर्थन और मूल्य नीति पर जोर देते थे, कुछ कृषि बाजार में संरचनात्मक सुधार चाहते थे, जबकि अन्य भूमि अधिकार, वन अधिकार, विस्थापन और कृषि श्रमिकों की स्थिति को केंद्र में रखते थे। इससे किसान राजनीति में विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के हितों की विविधता स्पष्ट होती है।

11. भूमि अधिग्रहण और किसान आंदोलन

इक्कीसवीं सदी में औद्योगिक परियोजनाओं, राजमार्गों, शहरी विस्तार, विशेष आर्थिक क्षेत्रों और अन्य विकास परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण ने कई क्षेत्रों में किसान आंदोलनों को जन्म दिया। इन आंदोलनों में किसानों ने मुआवजे की पर्याप्तता, भूमि के स्वामित्व, पुनर्वास, आजीविका और विकास परियोजनाओं से प्राप्त होने वाले लाभों के वितरण से संबंधित प्रश्न उठाए।

सिंगूर और नंदीग्राम जैसे आंदोलनों ने भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया और कृषि भूमि के वैकल्पिक उपयोग को राष्ट्रीय चर्चा का विषय बनाया। इन संघर्षों ने स्पष्ट किया कि किसानों के लिए भूमि केवल उत्पादन का साधन नहीं है, बल्कि वह सामाजिक पहचान, पारिवारिक सुरक्षा और भविष्य की आजीविका से भी जुड़ी होती है।

भूमि अधिग्रहण से संबंधित आंदोलनों में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग सामाजिक समूह शामिल हुए। कहीं छोटे किसान और बटाईदार प्रमुख थे, तो कहीं कृषि मजदूरों तथा ग्रामीण समुदायों ने भी विरोध में भाग लिया। इन आंदोलनों का विश्लेषण करते समय विकास परियोजनाओं की आवश्यकता, सार्वजनिक हित, प्रभावित परिवारों के अधिकार और उचित पुनर्वास—सभी पहलुओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

12. वर्ष 2020–2021 का किसान आंदोलन

2020–2021 का किसान आंदोलन आधुनिक भारत के किसान आंदोलनों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण समकालीन घटना था। जून 2020 में कृषि संबंधी तीन केंद्रीय कानून अध्यादेशों के माध्यम से लाए गए और सितंबर 2020 में संसद द्वारा पारित किए गए। इन कानूनों का उद्देश्य कृषि उपज के व्यापार, अनुबंध खेती और आवश्यक वस्तुओं के नियमन से संबंधित व्यवस्था में परिवर्तन करना था।

आंदोलनकारी किसान संगठनों ने आशंका व्यक्त की कि नई व्यवस्था से सरकारी मंडियों की भूमिका और न्यूनतम समर्थन मूल्य से जुड़ी सुरक्षा कमजोर हो सकती है। उनकी प्रमुख माँगों में तीनों कानूनों को वापस लेना तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य को कानूनी गारंटी प्रदान करना शामिल था। दूसरी ओर, कानूनों के समर्थकों का तर्क था कि इनसे किसानों को अधिक व्यापारिक विकल्प, निजी निवेश और बाजार तक पहुँच मिल सकती है। इस प्रकार विवाद का केंद्र कृषि बाजार के संभावित लाभों और किसानों की सुरक्षा संबंधी चिंताओं के बीच संतुलन का प्रश्न था।

पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसान संगठनों ने आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। दिल्ली की सीमाओं पर लंबे समय तक धरने, सामूहिक सभाएँ, वार्ताएँ और देश के विभिन्न हिस्सों में विरोध प्रदर्शन हुए। आंदोलन की अवधि और व्यापकता ने कृषि नीति निर्माण में किसान संगठनों की भूमिका को फिर से राष्ट्रीय बहस के केंद्र में ला दिया।

19 नवंबर 2021 को प्रधानमंत्री ने तीनों कृषि कानूनों को वापस लेने की घोषणा की। इसके बाद संसद ने 29 नवंबर 2021 को कृषि

कानून निरसन विधेयक पारित किया, जिससे तीनों कानून निरस्त कर दिए गए। दिसंबर 2021 में किसान संगठनों ने सरकार से प्राप्त आश्वासनों के बाद आंदोलन स्थगित करने की दिशा में कदम उठाया।

इस आंदोलन का ऐतिहासिक महत्त्व कई स्तरों पर देखा जा सकता है। प्रथम, इसने कृषि बाजार और सरकारी नीतियों से संबंधित निर्णयों में किसानों की भागीदारी की आवश्यकता को उजागर किया। द्वितीय, इसने विभिन्न किसान संगठनों के बीच समन्वय की भूमिका को सामने रखा। तृतीय, इसने दिखाया कि कृषि नीति में बदलाव केवल आर्थिक दक्षता का प्रश्न नहीं है, बल्कि उससे जुड़े समूहों के विश्वास, सुरक्षा और आजीविका का भी विषय है। इसके बावजूद आंदोलन की सामाजिक संरचना, क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व और विभिन्न कृषि वर्गों के हितों पर अलग-अलग दृष्टिकोण मौजूद रहे। अतः इस आंदोलन का मूल्यांकन केवल कानूनों की वापसी से नहीं, बल्कि कृषि बाजार, न्यूनतम समर्थन मूल्य, छोटे किसानों की सुरक्षा और नीति निर्माण में संवाद जैसे व्यापक प्रश्नों के संदर्भ में भी किया जाना चाहिए।

13. आधुनिक किसान आंदोलनों की प्रमुख विशेषताएँ

आधुनिक भारत के किसान आंदोलनों के ऐतिहासिक विकास से कुछ व्यापक प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं।

पहली विशेषता स्थानीय असंतोष से व्यापक संगठन की ओर बढ़ना है। उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक संघर्ष किसी विशेष क्षेत्र, कर या शोषणकारी प्रथा के विरोध में प्रारंभ हुए। बीसवीं शताब्दी में किसान सभाओं और राजनीतिक संगठनों के विकास से अनेक संघर्षों को व्यापक मंच मिला। दूसरी विशेषता आंदोलनों के मुद्दों में परिवर्तन है। औपनिवेशिक काल में लगान, बेगार, जबरन खेती, ऋण और भूमि अधिकार प्रमुख थे। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार तथा ग्रामीण विकास के प्रश्न सामने आए, जबकि बाद के दशकों में कृषि मूल्य, उत्पादन लागत, सरकारी खरीद, बिजली, बाजार और कृषि नीति से जुड़े विषय महत्वपूर्ण बने।

तीसरी विशेषता नेतृत्व और सामाजिक आधार की विविधता है। कुछ आंदोलनों का नेतृत्व राष्ट्रीय नेताओं ने किया, कुछ किसान सभाओं और वामपंथी संगठनों से जुड़े थे, जबकि नए किसान आंदोलनों में क्षेत्रीय कृषक संगठन प्रमुख बने। इस विविधता के कारण आंदोलनों के उद्देश्य और कार्यप्रणाली में भी अंतर दिखाई देता है।

चौथी विशेषता आंदोलन के तरीकों में विविधता है। किसान आंदोलनों में याचिका, कानूनी संघर्ष, सत्याग्रह, सामूहिक लगानबंदी, सभाएँ, धरने, सड़क प्रदर्शन और कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों में सशस्त्र प्रतिरोध तक देखने को मिलता है। इन तरीकों का चयन संबंधित क्षेत्र की सामाजिक संरचना और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है।

पाँचवीं विशेषता महिलाओं की भूमिका है। ग्रामीण महिलाएँ खेती, पशुपालन, बीज संरक्षण और घरेलू अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। विभिन्न किसान आंदोलनों में महिलाओं ने धरनों, सभाओं, संगठनात्मक कार्यों और सामूहिक विरोध में भाग लिया। फिर भी भूमि के स्वामित्व, संसाधनों तक पहुँच और संगठनात्मक नेतृत्व में महिलाओं की समान भागीदारी एक महत्वपूर्ण चुनौती बनी हुई है।

14. किसान आंदोलनों की उपलब्धियाँ और सीमाएँ

आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों ने ग्रामीण समाज और कृषि नीति को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनकी उपलब्धियों को समझने के लिए तत्कालीन माँगों, प्रशासनिक प्रतिक्रियाओं और दीर्घकालीन सामाजिक परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। किसान आंदोलनों की पहली उपलब्धि ग्रामीण शोषण और कृषि संबंधी समस्याओं को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाना रही है। नील विद्रोह और चंपारण सत्याग्रह ने जबरन खेती तथा बागान व्यवस्था से जुड़ी समस्याओं को उजागर किया। बिजोलिया आंदोलन ने रियासती शासन में करों और बेगार के प्रश्न को उठाया। तेभागा और तेलंगाना आंदोलनों ने भूमि संबंधों तथा वास्तविक कृषकों के अधिकारों पर ध्यान केंद्रित किया।

दूसरी उपलब्धि संगठनात्मक चेतना का विकास है। किसान सभाओं और क्षेत्रीय संगठनों ने किसानों को अपनी समस्याओं के लिए सामूहिक रूप से आवाज उठाने का मंच प्रदान किया। बारदोली और 2020–2021 के किसान आंदोलन जैसे उदाहरण दिखाते हैं कि संगठित विरोध के माध्यम से सरकारी नीतियों पर पुनर्विचार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

तीसरी उपलब्धि लोकतांत्रिक भागीदारी का विस्तार है। किसान आंदोलनों ने यह प्रश्न उठाया कि कृषि से संबंधित नीतियाँ बनाते समय उन लोगों के अनुभवों और चिंताओं को किस प्रकार शामिल किया जाए जो प्रत्यक्ष रूप से उनसे प्रभावित होते हैं। हालाँकि, इन आंदोलनों की कुछ सीमाएँ भी रही हैं। कई आंदोलन क्षेत्रीय स्तर तक सीमित रहे और उनकी माँगों का लाभ सभी किसान वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँचा। कुछ आंदोलनों में बड़े तथा मध्यम किसानों का प्रभाव अधिक रहा, जबकि भूमिहीन कृषि मजदूरों, महिलाओं और छोटे किसानों के मुद्दे अपेक्षाकृत कम महत्व प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त, आंदोलनों की उपलब्धियाँ कई बार प्रशासनिक समझौतों तक सीमित रहीं और कृषि संरचना में व्यापक परिवर्तन नहीं हो पाया।

इसलिए किसान आंदोलनों का ऐतिहासिक मूल्यांकन करते समय उनकी उपलब्धियों और सीमाओं दोनों को स्वीकार करना आवश्यक है। इन आंदोलनों ने अनेक समस्याओं को उजागर किया, लेकिन भूमि असमानता, कृषि आय की अनिश्चितता, ग्रामीण ऋण और संसाधनों की असमान उपलब्धता जैसी समस्याओं के समाधान के लिए व्यापक नीतिगत प्रयासों की आवश्यकता बनी रही।

15. समकालीन भारत में किसान आंदोलनों की चुनौतियाँ

समकालीन भारत में किसान आंदोलनों के सामने सबसे प्रमुख चुनौती कृषि आय की स्थिरता है। छोटे और सीमांत किसानों के लिए उत्पादन लागत, मौसम की अनिश्चितता, बाजार मूल्य और ऋण भुगतान के बीच संतुलन बनाना कठिन हो सकता है। इसके अतिरिक्त, सिंचाई की सीमित उपलब्धता, भूजल का घटता स्तर, मिट्टी की गुणवत्ता और जलवायु परिवर्तन कृषि उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

दूसरी चुनौती किसान समुदाय की आंतरिक विविधता है। भूमिहीन कृषि मजदूर, पट्टेदार किसान, छोटे किसान और बड़े व्यावसायिक किसान कृषि अर्थव्यवस्था में अलग-अलग भूमिकाएँ निभाते हैं। उदाहरण के लिए, कृषि उपज के ऊँचे मूल्य से उत्पादक किसानों को लाभ हो सकता है, लेकिन इससे खाद्य वस्तुओं की कीमतों और उपभोक्ताओं के खर्च पर भी प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए कृषि नीति में उत्पादकों की आय और उपभोक्ताओं की खाद्य सुरक्षा के बीच संतुलन आवश्यक है।

तीसरी चुनौती किसान संगठनों के बीच समन्वय की है। भारत के विभिन्न राज्यों में फसलों, सिंचाई प्रणालियों, बाजार संरचनाओं और भूमि स्वामित्व की परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं। इस कारण सभी क्षेत्रों के लिए एक समान समाधान प्रभावी नहीं हो सकता। किसान आंदोलनों को क्षेत्रीय आवश्यकताओं के साथ-साथ व्यापक कृषि नीति के प्रश्नों पर भी विचार करना पड़ता है।

चौथी चुनौती कृषि क्षेत्र में महिलाओं के योगदान और अधिकारों को पर्याप्त मान्यता देना है। महिलाओं की भागीदारी के बावजूद भूमि स्वामित्व, संस्थागत ऋण, प्रशिक्षण और कृषि निर्णयों में उनकी स्थिति अनेक क्षेत्रों में कमजोर बनी हुई है। किसान आंदोलनों की समावेशिता का आकलन इस आधार पर भी होना चाहिए कि वे महिलाओं और कमजोर कृषक समूहों की आवश्यकताओं को किस सीमा तक शामिल करते हैं।

इन चुनौतियों के समाधान के लिए पारदर्शी नीति निर्माण, किसान संगठनों के साथ संवाद, कृषि अनुसंधान, प्रभावी फसल बीमा, सुलभ संस्थागत ऋण, सिंचाई सुविधाओं और बाजार संबंधी जानकारी का विस्तार महत्वपूर्ण है।

16. प्रमुख किसान आंदोलनों का तुलनात्मक ऐतिहासिक विश्लेषण

किसान आंदोलन	प्रमुख मुद्दा	ऐतिहासिक महत्व
नील विद्रोह, 1859–1860	जबरन नील की खेती	औपनिवेशिक कृषि शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध

पाबना आंदोलन, 1873–1876	लगान वृद्धि और किरायेदारी अधिकार	संगठित कृषक प्रतिरोध और कानूनी अधिकारों पर जोर
दक्कन दंगे, 1875	ऋणग्रस्तता और साहूकारी शोषण	कृषि ऋण की समस्या का सार्वजनिक प्रश्न बनना
बिजोलिया आंदोलन, बीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल	लाग-बाग, बेगार और कर	रियासती राजस्थान में किसान चेतना का विकास
चंपारण सत्याग्रह, 1917	तिनकठिया और जबरन नील की खेती	किसान प्रश्न का राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ाव
खेड़ा सत्याग्रह, 1918	फसल खराब होने पर लगान राहत	सामूहिक अहिंसक प्रतिरोध
बारदोली सत्याग्रह, 1928	भू-राजस्व वृद्धि	किसान संगठन और अनुशासित सामूहिक संघर्ष
तेभागा आंदोलन, 1946–1947	बटाईदारों का दो-तिहाई उपज हिस्सा	कृषक श्रम और भूमि अधिकारों का प्रश्न
तेलंगाना आंदोलन, 1946–1951	सामंती शोषण और भूमि अधिकार	ग्रामीण सत्ता-संबंधों को चुनौती
नए किसान आंदोलन, 1970–1980 के दशक	लाभकारी मूल्य और उत्पादन लागत	बाजारोन्मुख कृषि के आर्थिक प्रश्न
किसान आंदोलन, 2020–2021	तीन कृषि कानून और MSP संबंधी मांगें	कृषि नीति, किसान भागीदारी और व्यापक जनसंगठन

स्रोत: NCERT-संबंधित शैक्षणिक सामग्री, भारत सरकार के ऐतिहासिक विवरण तथा किसान आंदोलनों पर प्रकाशित शोध साहित्य।

इस तुलना से स्पष्ट होता है कि किसान आंदोलनों की मांगें ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही हैं। फिर भी भूमि, आजीविका, आर्थिक सुरक्षा और निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी जैसे मूल प्रश्न विभिन्न कालखंडों में किसी न किसी रूप में बने रहे।

17. निष्कर्ष

आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का विकास भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसका प्रारंभ औपनिवेशिक शासन के दौरान भूमि-राजस्व व्यवस्था, जबरन नकदी फसलों की खेती, साहूकारी शोषण और ग्रामीण असमानताओं के विरुद्ध विकसित हुए संघर्षों से हुआ। नील विद्रोह, पाबना आंदोलन और दक्कन दंगों ने किसान असंतोष के विभिन्न रूपों को सामने रखा। बिजोलिया आंदोलन ने रियासती राजस्थान में किसान अधिकारों की चेतना को मजबूत किया, जबकि चंपारण, खेड़ा और बारदोली सत्याग्रहों ने किसान प्रश्नों को राष्ट्रीय राजनीति से जोड़ने में योगदान दिया।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में किसान सभाओं, तेभागा और तेलंगाना जैसे आंदोलनों ने भूमि संबंधों, बटाईदारों के अधिकारों और ग्रामीण शोषण के विरुद्ध संघर्ष को अधिक संगठित रूप प्रदान किया। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधार, कृषि विकास और ग्रामीण कल्याण की नीतियों ने नई संभावनाएँ उत्पन्न कीं, लेकिन कृषि संसाधनों की असमानता तथा किसानों की आर्थिक असुरक्षा जैसी समस्याएँ बनी रहीं।

हरित क्रांति और कृषि के बढ़ते व्यावसायीकरण के बाद किसान आंदोलनों का ध्यान उत्पादन लागत, कृषि उपज के मूल्य, बिजली, सिंचाई, ऋण और बाजार व्यवस्था की ओर अधिक केंद्रित हुआ। 2020–2021 के किसान आंदोलन ने एक बार फिर यह स्पष्ट किया कि कृषि नीतियों में बदलाव के समय किसानों की चिंताओं, सुरक्षा संबंधी अपेक्षाओं और संवाद की आवश्यकता को महत्व देना आवश्यक है।

ऐतिहासिक विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि किसान समुदाय एक समान सामाजिक-आर्थिक समूह नहीं है। छोटे किसान, भूमिहीन मजदूर, बटाईदार, महिला कृषक और बड़े किसान कई मामलों में अलग-अलग समस्याओं का सामना करते हैं। अतः किसान आंदोलनों की सफलता और व्यापकता का आकलन उनके नेतृत्व, सामाजिक आधार, मांगों और परिणामों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

अंततः, आधुनिक भारत में किसान आंदोलनों का इतिहास आर्थिक न्याय, सामाजिक अधिकारों और लोकतांत्रिक भागीदारी की निरंतर विकसित होती प्रक्रिया का इतिहास है। इन आंदोलनों ने ग्रामीण समाज की समस्याओं को सार्वजनिक विमर्श में स्थान दिलाया और कृषि नीति निर्माण में किसानों की भूमिका को रेखांकित किया। भविष्य में कृषि क्षेत्र की चुनौतियों का समाधान करने के लिए किसानों की आय और आजीविका की सुरक्षा, संसाधनों का न्यायसंगत वितरण, पर्यावरणीय स्थिरता तथा सहभागी नीति निर्माण को साथ लेकर चलना आवश्यक होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची (References)

1. Bipan Chandra, Mridula Mukherjee, Aditya Mukherjee, K. N. Panikkar एवं Sucheta Mahajan. (1989). *India's Struggle for Independence, 1857–1947*. New Delhi: Penguin Books. अध्याय 16, “Peasant Movements and Nationalism in the 1920s,” पृ. 197–209; अध्याय 27, “Peasant Movements in the 1930s and '40s,” पृ. 343–355।
2. D. N. Dhanagare. (1983). *Peasant Movements in India, 1920–1950*. Delhi: Oxford University Press. कुल 254 पृष्ठ; संदर्भ ग्रंथ सूची पृ. 230–250।
3. Dharma Kumar एवं Meghnad Desai (सं.). (1983). *The Cambridge Economic History of India, Volume II: c. 1757–c. 1970*. Cambridge: Cambridge University Press.
4. Eric Stokes. (1978). *The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India*. Cambridge: Cambridge University Press.
5. Sumit Sarkar. (1983). *Modern India, 1885–1947*. Delhi: Macmillan.
6. Sekhar Bandyopadhyay. (2004). *From Plassey to Partition and After: A History of Modern India*. New Delhi: Orient Longman.
7. Gail Omvedt. (1993). *Reinventing Revolution: New Social Movements and the Socialist Tradition in India*. Armonk, NY: M. E. Sharpe.
8. Ghanshyam Shah (सं.). (2002). *Social Movements and the State*. New Delhi: Sage Publications.
9. Sunil Sen. (1979). *Peasant Movements in India: Mid-Nineteenth and Twentieth Centuries*. Calcutta: K. P. Bagchi.
10. S. M. Pandey. *Emergence of Peasant Movement in India*. Shri Ram Centre for Industrial Relations and Human Resources.
11. L. Natarajan. (1953). *Peasant Uprisings in India, 1850–1900*. Bombay: People's Publishing House.
12. S. S. Saxena एवं Padmaja Sharma. (1972). *Bijolia Kisan Andolan ka Itihas*. Bikaner: Rajasthan State Archives.
13. M. S. Jain. (1993). *Concise History of Modern Rajasthan*. New Delhi: Vishwa Prakashan.
14. G. N. Sharma एवं V. S. Bhatnagar. (1993). *The Peasantry Through the Ages in Western India (with Special Reference to Rajasthan)*. Jaipur: Centre for Rajasthan Studies, University of Rajasthan.
15. K. M. Saxena. *Rajasthan Mein Rajnitik Janjagaran*. Jaipur: Rajasthan Hindi Granth Akademi.
16. R. P. Vyas. (1997). *Complete History of Modern Rajasthan, Vol. II*. Jaipur: Rajasthan Hindi Granth Akademi.
17. F. K. Kapil. (1999). *Rajputana States (1817–1950 A.D.)*. Jodhpur: Book Treasure.
18. T. K. Mathur. (1987). *Feudal Polity in Marwar (1750–1850)*. Jaipur: Publication Scheme.

19. V. P. Menon. (1956). The Story of the Integration of the Indian States. Calcutta: Orient Longmans.
20. Jawaharlal Nehru. (1946). The Discovery of India. Calcutta: Signet Press.
21. M. K. Gandhi. (1927). An Autobiography: The Story of My Experiments with Truth. Ahmedabad: Navajivan Publishing House.
22. M. K. Gandhi. (1928). Satyagraha in Champaran. Ahmedabad: Navajivan Publishing House.
23. P. Sundarayya. (1972). Telangana People's Struggle and Its Lessons. Calcutta: Communist Party of India (Marxist)
24. Daniel Thorner. (1962). The Shaping of Modern India. New Delhi: Allied Publishers.
25. R. Desai (सं.). (1979). Peasant Struggles in India. Bombay: Oxford University Press.
26. Government of India, Press Information Bureau. (2017). Hundred Years of Champaran Satyagraha. 7 अप्रैल 2017.
27. PRS Legislative Research. (2021). The Farm Laws Repeal Bill, 2021. नई दिल्ली: PRS Legislative Research.
28. House of Commons Library. (2021). Farmers' Protests in India and Agricultural Reforms. Research Briefing CBP-9226, 13 December 2021.
29. Review of Agrarian Studies. (2014). "Interviews with Leaders of Peasant Movements in India." Vol. 4, No. 2, July–December 2014.
30. National Council of Educational Research and Training (NCERT). Social Change and Development in India. अध्याय 8, "Social Movements," विशेषतः खंड 8.5, "Class Based Movements—Peasant Movements."